



प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा में शैक्षिक अवधारणा : संस्कृत वाङ्मय के सन्दर्भ में

डॉ. श्याम लाल

आचार्य, संस्कृत

चौ. बल्लूराम गोदारा राजकीय कन्या,
महाविद्यालय, श्रीगंगानगर (राज.)

शोध सार –

भारतीय प्राचीन ज्ञान परम्परा एवं संस्कृत वाङ्मय इस भारत देश की थाती हैं जो सदियों तक शिक्षा पद्धति को न केवल नई दिशा देने का काम करेगी अपितु ज्ञान-शील-संस्कार, जीवन मूल्यों, राष्ट्र निर्माण, सभ्य नागरिक निर्माण में महती भूमिका निभायेगी। इसका सबसे उज्ज्वल पक्ष गुरु-शिष्य परम्परा व गुरु-शिष्य का आचरण व चरित्र है जो विद्यार्थी के इहलोक से परलोक तक की यात्रा को सुखद एवं आनन्दित करने का मार्ग प्रशस्त करता हैं। केवल पाठ्यक्रम का ज्ञान करवाने मात्र से विकसित राष्ट्र की कल्पना करना बेमानी होगी। शिक्षा के साथ नैतिकता, आत्मबोध, जीवन मूल्य व संस्कारों की महती आवश्यकता है।

शब्द कुंजी –

वाङ्मय, आध्यात्मिक, ब्रह्मचारी, गुरुकुल पद्धति, जितेन्द्रिय, स्वाध्याय, ज्ञानार्जन, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, आत्मसात्, श्रेयस्कर, सर्वाङ्गीण, शिक्षा पद्धति, उद्देश्य।

प्रस्तावना –

प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा अत्यधिक सुदृढ़ रही है जो सही मायने में व्यक्तित्व निर्माण के साथ-साथ चारित्रिक निर्माण, आध्यात्मिक विकास, नैतिक मूल्यों की स्थापना, सामाजिक कर्तव्यों के निर्वहन व भारतीय संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन की पोषक रही हैं। वेदाध्ययन के साथ-साथ मानवीय संवेदना, संस्कार निर्माण, अहंकार का क्षय, सहयोग व समभाव, मानवीय मूल्यों की जीवन्तता, राष्ट्र निर्माण में योगदान, जैसे विषयों

का समावेश भी स्वतः ही गुरु के आचरण से ब्रह्मचारी में आ जाते थे। वर्तमान समय में संस्कार व चरित्र निर्माण का जिस गति से आधुनिकता की होड़ में पतन हुआ है वह चिन्तनीय है। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपनी तपः साधना के बल पर अन्तेवासी का बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास के साथ सर्वाङ्गीण विकास पर बल दिया था फलतः एक अच्छे राष्ट्रभक्त व सभ्य नागरिक का निर्माण होता था जो राष्ट्र के विकास का महत्वपूर्ण घटक था। यह परम्परा आचार्य के व्यक्तिगत मार्गदर्शन, समग्र शिक्षा और शिष्य के आत्म-विकास पर केन्द्रित थी। जिसके अन्तर्गत ज्ञान का संचार व हस्तान्तरण पीढ़ी दर पीढ़ी होता था, यह ज्ञान केवल किताबी ज्ञान व सीमित पाठ्यक्रम पर आधारित न होकर मानव के सर्वाङ्गीण विकास हेतु, जिसमें नैतिक शिक्षा भी शामिल थी।

विषय प्रवेश :

यह परम्परा गुरुकुल पद्धति पर आधारित थी। शिष्य गुरु के निवास स्थान पर यानी गुरुकुल में गुरु के सान्निध्य में रहता था और गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा, सम्मान व समर्पण का भाव रखता था। गुरु का स्थान सर्वोपरि था। गुरु को देवतुल्य समझा जाता था। गुरु ही अपने शिष्य के व्यक्तित्व निर्माण की चिन्ता करते हुए उसके इहलोक से परलोक की यात्रा को सुगम व सार्थक बनाता था।

अतः इस परम्परा का आधार सांसारिक ज्ञान से प्रारम्भ होता है, परन्तु इसका चरमोत्कर्ष आध्यात्मिक शाश्वत आनन्द की प्राप्ति है, जिसे ईश्वर प्राप्ति व मोक्ष प्राप्ति भी कहा जाता है। प्राचीन भारतीय ज्ञान के मूल स्रोत वेद और उपनिषद् व पुराण, श्रीमद्भागवत् गीता थे जो जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए उन्नत जीवन की संकल्पना को मूर्त रूप देते थे। शिक्षा का उद्देश्य आत्म साक्षात्कार और जीवन के रहस्यों को समझना था। शिक्षा में शील और सदाचार का महत्व था जो जीवन के नैतिक मूल्यों को दर्शाता है।

मनुस्मृति में महर्षि मनु ने कहा है —

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद्रग्रजन्मनः ।

स्व-स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्वमानवाः ।।

अर्थात् इस भारत देश में उत्पन्न ऋषि-मुनियों के पास पृथ्वी के सभी मानव (विदेशी) अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लेने आते थे। भारत की शिक्षा पद्धति में चरित्र निर्माण करना इतना सुदृढ़ था।

प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा में शैक्षिक अवधारणा को संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों के तथ्यों से समझा जा सकता है।

वैदिक वाङ्मय से —

गुरु शिष्य परम्परा में दोनों के लिए तीन बन्धन अनिवार्य कहे गये हैं, अथर्ववेद में ऋषि अगस्त्य का कथन है —

तं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलयासिनामि।¹

अर्थात् मैं इस बालक (शिष्य) को ब्रह्मचर्य, तप एवं श्रम मेखला-बंधन से बांधता हूँ। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा में चर्य अर्थात् विचरण करना। अर्थात् सदैव परमात्मा का ध्यान करना और ज्ञान प्राप्त करना। ब्रह्मचर्य ज्ञान का वह मार्ग है, जिसमें इन्द्रियों और यौन सुखों पर नियन्त्रण रखना, विद्या ग्रहण करना और आत्मिक उन्नति करना है। यह केवल विवाह न करना या यौन संयम मात्र नहीं है अपितु एक सात्विक, अनुशासित और एकाग्र जीवन जीना है जिसमें सभी इन्द्रियों को संयमित करते हुए परमात्मा का ध्यान किया जाता है और ज्ञान का मार्ग बिना तप एवं श्रम के सम्भव नहीं है।

स नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तव इन्द्रियं च।²

अर्थात् वह कटिबद्ध कार्य हम सबको निश्चय-बुद्धि (स्थिर बुद्धि) दें, मनन-शक्ति प्रदान करें तथा हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का भी विकास करें।

गुरुकुल में जब शिष्य गुरु के सान्निध्य में रहने लगता था तब गुरु ही उसके सर्वाङ्गीण विकास की चिन्ता करता था और वह अपने शिष्य की रक्षा माता के समान करता था —

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

तं रात्रिस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।³

अर्थात् आचार्य के समीप ले जाये गये बालक को आचार्य उसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार माता शिशु का गर्भ में धारण करती है। उस बालक को आचार्य तीन

रात्रि पर्यन्त अपने उदर में (समीप आश्रम में) रखता है (उसे ज्ञान देता है) जिसे बाद में देवता देखने आते हैं।

वेदकालीन शिक्षा पद्धति में गुरु शिष्य को स्वाध्याय के साथ-साथ राष्ट्र सेवा के लिए भी तत्पर रहने हेतु जागृत करता था। देश के कर्णधार बच्चों को स्वदेश के प्रति प्रेम व गर्व की अनुभूति करवाना गुरु का दायित्व था। वे आह्वान करते थे कि हम राष्ट्र को जाग्रत करने वाले अग्रणी बने एवं देश का नेतृत्व करें –

“वयं राष्ट्रे जागृत्याम पुरोहिताः”⁴

किसी भी विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कर सबसे पहले एक सभ्य नागरिक बनना चाहिए जो राष्ट्र के प्रति, समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझें; शिक्षा से ही एक श्रेष्ठ नागरिक का निर्माण होता है यही वेदकालीन शिक्षा की विशेषता थी – “मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्”⁵ अर्थात् हे प्राणी! तू मनुष्य बन और फिर दिव्यजन का निर्माण कर।

भारतीय प्राचीन शिक्षा पद्धति में गुरु न केवल पाठ्यक्रम की शिक्षा पूर्ण करवाता था, बल्कि एक बालक के सर्वाङ्गीण विकास को धुरी मानते हुए उसके इहलाक से परलोक की यात्रा को सुगम व श्रेष्ठ बनाने वाली विद्या का अर्जन करवाते थे ताकि उसका यह सांसारिक जीवन तो सुखमय हो ही अपितु पारलौकिक जीवन भी श्रेयस्कर हो। उसके मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त हो सके –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।⁶

अर्थात् अविद्या से (अज्ञान से) संसार सागर को पार कर विद्या से अमृत तत्त्व प्राप्त किया जाता है। सांसारिक यात्रा जीवन के दायित्वों को पूर्ण करने के लिए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त एवं अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जाये तथा वेद, उपनिषद आदि के द्वारा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जाये तो मोक्ष की प्राप्ति करवाये।

उपनिषदों में शैक्षिक अवधारणा –

ब्रह्मचारी के लिए ज्ञानार्जन हेतु जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। उसका अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण होगा तभी एकाग्रता बढ़ेगी और ज्ञान का मार्ग प्रशस्त होगा।

शिक्षा प्रणाली में आत्म तत्त्व का भी चिन्तन करवाया जाता था, जिसका उद्देश्य था कि स्वयं को जानों। मानव का जन्म किसलिए हुआ है? इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए गुरुकुल में ज्ञान दिया जाता था –

“शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा”⁷

अर्थात् प्राणी जिस साधन, प्रणाली से ज्ञान उपार्जित करता है उसी का नाम शिक्षा है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।⁸

अर्थात् तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम।

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण
श्रद्धया संवत्सरं संवत्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत
यदि विज्ञासामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।⁹

अर्थात् तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर एक वर्ष और निवास करो, फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना, यदि मैं जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बता दूँगा। हितोपदेश में विद्या सम्बन्धी सूत्र –

विद्या को एक अतुलनीय, अकल्पनीय व अद्भुत कहा गया है क्योंकि यह एक ऐसी सम्पत्ति है जिसे कोई चुरा नहीं सकता, कोई खरीद नहीं सकता और दूसरों को बांटने पर कम नहीं होती –

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्धत्वादक्षयात्वाच्च सर्वदा।¹⁰

मनुष्य विद्याध्ययन से ही विनयशील बनता है, विनयवान होने से ही वह सुपात्र बनता है, पात्रता से ही धनार्जन करता है, धन से धर्म अर्थात् सांसारिक कर्म करता है और उससे सुख प्राप्त करता है –

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्।¹¹

विद्या पाकर उसे आत्मसात् करना ही विद्वता है। ज्ञान को व्यवहार में लाये बिना शिक्षित होना व्यर्थ है। ज्ञान व्यक्ति को संवेदनशील बनाता है, व्यावहारिक बनाता है।

समाज में प्राणी को किस तरह का व्यवहार करना चाहिए कि बिना कहे ही पता चल जाए कि यह कोई विद्वान् ही है –

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥¹²

अर्थात् परस्त्री को माता के समान, पराये धन को ढेले के समान और समस्त प्राणियों को अपने समान जो देखता है, वही विद्वान् है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में शिक्षा के सिद्धान्त –

श्रीमद्भगवद्गीता केवल एक पुस्तक ही नहीं है, अपितु यह वह ग्रन्थ है जो मानव जाति का कल्याण करने वाला है। जीवन जीने की कला सीखाता है, कर्तव्य पथ पर निरन्तर चलने की प्रेरणा देता है। सुख और दुःख दोनों ही परिस्थितियों में मानव को राह दिखाता है। मानव जीवन को आनन्दमय, कल्याणमय बनाने की सीख देता है। इसकी विलक्षणता यह है कि इसमें जो कुछ लिखा गया है वह भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत वाणी है। भारतीय प्राचीन ज्ञान परम्परा की दृष्टि से देखा जाये तो कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्धभूमि पर जब अर्जुन मोहग्रस्त व शोकग्रस्त होकर युद्धविमुख हो गए तो श्रीकृष्ण ने उन्हें बहुत समझाने का प्रयास किया और उसे क्षत्रिय धर्म का निर्वहन् करने की बात कही, परन्तु अर्जुन पारिवारिक मोह में पड़कर यह नहीं समझ पाया। अन्ततः अर्जुन ने श्रीकृष्ण को अपना गुरु माना और कहा कि हे भगवन् अब मैं आपके शरणागत हो गया हूँ जो उचित हो, मेरे लिए श्रेय है – वह कहिये। इस समय अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण शरणागत हो गये और श्रीकृष्ण के प्रति अटूट श्रद्धा से यह बात कही तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान दिया – जो आज भी प्रासंगिक है। किसी के प्रति जब तक हम श्रद्धा प्रकट नहीं करेंगे तब तक हम उनसे कोई भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेंगे और कर भी लेंगे तो उसकी क्रियान्विति नहीं होगी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को अपना गुरु माना और उनके प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की तब श्रीकृष्ण की वाणी का उन पर प्रभाव होना शुरू हुआ।

गीता में कहा गया है –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥¹³

अर्थात् जितेन्द्रिय, साधनापराण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान प्राप्त कर वह बिना विलम्ब के तत्काल ही भगवत् प्राप्ति रूप परम् शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।¹⁴

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में ज्ञान सम्बन्धी विचार –

संस्कृत साहित्य जगत् के एक दैदीप्यमान नक्षत्र के रूप में महाकवि कालिदास ने अपनी वैदुष्य प्रतिभा से संस्कृत जगत् को आलोकित किया है, भारतवर्ष काव्य-खनि का एक गगनस्पर्शी भास्वर उन्मेषमय पर्वत है। कालिदास इस खनि के एकमात्र अद्वितीय बेजोड़ रत्न हैं। कवि कुल गुरु की उपाधि से विभूषित महाकवि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में आचार्य के सम्बन्ध में कहा है कि जो आचार्य स्वार्थवश ज्ञान देता है वह बनिया (वैश्य) है, व्यापारी है –

यस्यागमः केवल-जीविकायै
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।¹⁵

अर्थात् जो आचार्य अपने शास्त्रज्ञान को मात्र उदरपूर्ति का साधन मानता है, उस व्यक्ति को बनिया (वैश्य) कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान बेचा करता है।

आचार्य अपने शिष्य में गुणों का आधान कर योग्य बनाता है, उसकी योग्यता व क्षमता में अभिवर्द्धन करता है तब वही योग्यता आचार्य की प्रसन्नता का कारण बनती है। उत्तम शिष्य को दी गयी विद्या गुणों की विशेषता व अधिकता को प्राप्त करती है –

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।¹⁶

अर्थात् जिस तरह मेघ (बादल) का जल समुद्र की सीपी में पड़कर मुक्ताफल (मोती) बन जाता है, उसी भाँति उत्तम पात्र को उपदेशक (आचार्य) द्वारा प्रदत्त विद्या गुणों की अधिकता को प्राप्त करती है।

महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'कुमारसंभवम्' में चिन्ता प्रकट की है कि ज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त यदि प्राणी अपने कर्तव्य पालन से विमुख रहता है, धर्म का आचरण नहीं करता है तो ऐसे ज्ञान का कोई लाभ नहीं है –

श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्।
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत्।।¹⁷

अर्थात् ऐसे ज्ञान से क्या लाभ, जिसे सुनकर व्यक्ति धर्म का आचरण न कर सके अर्थात् कर्तव्यपालन न कर सके। ऐसे जीवन से क्या लाभ, जो जितेन्द्रिय न हो।

चाणक्य-नीति में गुरु-शिष्य के आचरण सम्बन्धी दृष्टि –

चाणक्य नीति में ज्ञानार्जन करने वाले बालक के साथ आयु के अनुसार व्यवहार कैसे करना चाहिए इस सम्बन्ध में कहा है –

लालयत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।।¹⁸

अर्थात् पांच वर्ष तक बालक का प्यार से लालन-पालन करना चाहिए। छः से पन्द्रह वर्ष की आयु में लाड़-प्यार न करके बड़े अनुशासन में रखना चाहिए। सोलह वर्ष का होने पर बालक को मित्रवत् समझना चाहिए।

गुरु (आचार्य) के प्रति कृतज्ञता भाव के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो आचार्य हमें एक अक्षर का भी ज्ञान कराता है उसके इस ज्ञान के ऋण से मुक्त नहीं हो सकते—

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबाधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वादनृणो भवेत्।।¹⁹

अर्थात् जो गुरु एक अक्षर का भी ज्ञान कराता है, उसके इस ऋण से मुक्त होने के लिए उसे देने योग्य पृथ्वी में कोई पदार्थ पर्याप्त नहीं है।

शुक्रनीति में आचार्य (गुरु) की योग्यता सम्बन्धी विचार –

शुक्रनीति में गुरु की योग्यता कौन रखता है इस बारे में कहा गया है –

योऽधीतविद्यः सकलः स सर्वेषां गुरुर्भवेत्।
न च जात्याऽनधीती यो गुरुर्भवितुमर्हति।।²⁰

अर्थात् जिस द्विज (ब्राह्मण) ने सम्पूर्ण विद्याओं तथा कलाओं का अध्ययन किया है, वही सबका गुरु होने योग्य होता है। बिना पढ़े, केवल जाति मात्र से वह गुरु नहीं हो सकता।

निष्कर्ष –

अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा की शैक्षिक अवधारणा ने विद्यार्थियों को न केवल ज्ञान प्रदान किया, बल्कि जीवन के उद्देश्यों को समझने और आत्म-चिन्तन करने में भी मदद की। इस परम्परा के मूल्य और सिद्धान्तों को आधुनिक शिक्षा प्रणाली में भी लागू किया जा सकता है। जिससे विद्यार्थियों का सर्वाङ्गीण विकास हो सके, उनमें नेतृत्व क्षमता, ज्ञान, शील के साथ-साथ राष्ट्र प्रेम का भी भाव जाग सके। यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में इस ज्ञान परम्परा पर बल दिया गया है।

¹ अथर्ववेद 6-133-3

² अथर्ववेद 6-133-4

³ अथर्ववेद 11-3-5

⁴ यजुर्वेद 9-23

⁵ ऋग्वेद 10-53-6

⁶ यजुर्वेद 40, 11

⁷ तैत्तिरियोपनिषद्

⁸ कठोपनिषद् 1-3-3

⁹ प्रश्नोपनिषद्

¹⁰ हितोपदेश, कथामुखम्, श्लोक 4

¹¹ हितोपदेश, कथामुखम्, श्लोक 6

¹² हितोपदेश, मित्रलाभ – 14

¹³ श्रीमद्भगवद्गीता 4/39

¹⁴ श्रीमद्भगवद्गीता 4/34

¹⁵ मालविकाग्निमित्रम् 1/17

¹⁶ मालविकाग्निमित्रम् 1/6

¹⁷ कुमारसंभवम् – पंचम सर्ग

¹⁸ चाणक्य नीति 3/18

¹⁹ चाणक्य नीति

²⁰ शुक्रनीति – चतुर्थ अध्याय